International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 02(II), April - June, 2023, pp. 12-18

अद्वैत वेदांत के माया, जीव, ब्रह्म की व्यवहारिक उपादेयता

सुभाष चंद्र शर्मा*
डॉ. जितेन्द्र थडानी**

सार

भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में प्रायः ऐसा माना जाता है कि माया मनुष्य के जीवन का मूल है। संसार में जो दृश्यमान है, वह सब मायामय है। लेकिन इसी में संसार का अस्तित्व है। माया ब्रह्म की शक्ति है, जो सत्य को ढक लेती है। माया का अर्थ है– जो अनुभव तो किया जा सके, लेकिन उसका कोई अस्तित्व न हो। आभासी दुनिया इसी का नाम है। इसका अर्थ एक ऐसी दुनिया से है, जो काल्पनिक होकर भी पूरी तरह सच प्रतीत होती है।माया भाव रूप है क्योंकि इस से जगत्सृजित होता है अविद्या अभाव रूप है क्योंकि इस से जीव बन्धन में पड़ता है।माया ईश्वर से जबकि अविद्या जीव से संबंधित है। विक्षेप तथा आवरण माया के दो कार्य है1. माया ब्रह्म के स्वरूप पर आवरण डाल देती है तथा इसके पश्चात् 2. जगत को ब्रह्म पर विक्षेपित कर देती है ।विज्ञान वर्चुअल रियलिटी और कंप्यूटर तकनीक से ऐसी दुनिया बनाता है, जिससे आभासी संसार के असली होने की अनुभूति होती है। एक कृत्रिम और त्रिआयामी वातावरण बनाया जाता है तथा उसे इस तरह पेश किया जाता है कि निस्संदेह उसे ही वास्तविक समझा और स्वीकार कर लिया जाता है। इसे इस रूप में भले ही स्वीकार किया जाता हो, पर असल में वह बनाई गई एक कृत्रिम दुनिया है या माया है, जो हमारी सोच को ढक देती है और हम मान बैठते हैं कि सब कुछ हम ही कर रहे हैं। विज्ञान भी यही कहता है कि संसार पदार्थों से बना है और पदार्थ की अंतिम इकाई परमाणु या तरंग है। यानी यह एक विद्युत प्रवाह है और कुछ नहीं। सुख या दुख, हमें जो भी अनुभव होता है, वह सब कहीं और नहीं, बल्कि विचार और भाव जगत में होता है, जिसे चेतना कहते हैं। जिसे हम देखते और महसूस करते हैं, वह विराट ईश्वरीय कंप्यूटर प्रोग्राम की तरह है। हम लोग मिलकर इसे चला रहे हैं। आभासी वास्तविकता एक ऐसा खेल या माया है, जिसे अपने दिमाग में हम सब खेल रहे हैं। जिस दिन दिमाग काम बंद करेगा, उस दिन पता चलेगा कि जिसे हम सच समझ रहे थे, वह सिर्फ भ्रम था और कुछ नहीं। यह भ्रम ही दुखों की जड़ है। जब हम किसी काम में सफल होते हैं, तो कहने लगते हैं हम कितने काबिल हैं, पर सच तो एक ही है। जब अच्छा काम होता है तब भी वही विद्यमान है, जो गलत काम होने पर रहता है। संसार में जो दिखता है, वह सब माया है। दरअसल संसार का दूसरा नाम ही माया है। जब हम किसी चकित कर देने वाली घटना को देखते हैं, तो उसे ईश्वर की माया कह देते हैं। माया ब्रह्म की ही शक्ति है, जो सत्य को ढक लेती है। उसकी जगह किसी दूसरी चीज के होने का भ्रम पैदा कर देती है, जैसे रस्सी से सांप का भ्रम हो जाता है। माया ब्रह्म की शक्ति तो है, पर ब्रह्म पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। जादूगर के खेल की तरह माया दर्शकों को भ्रमित कर सकती है, पर खुद भ्रम में नहीं होती। इसलिए हमारे ऋषि–मुनियों और विद्वानों–मनीषियों ने कहा है कि माया से बचकर रहना चाहिए। समय–समय पर आत्मावलोकन करते रहना चाहिए कि कहीं हमारे मन–मस्तिष्क पर माया हावी तो नहीं होती जा रही है।आखिर कहा भी गया है।

* शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान।
** सहायक आचार्य, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान।

'मायामहाठगिनीहमजानी1

हम माया को बहुत बड़ी ठगनी समझते हैं, उसके हाथ में त्रिगुण की फाँसी का फंदा है और होंठों पर मीठे बोल।

शब्दकोषः *माया, जीव, जगत, ब्रह्म, मिथ्या, आत्मज्ञान, आत्मतत्व, सर्वशक्तिमान, भगवत्ता, प्रपंच, अद्वैत, समष्टि, नेति–नेति।*

प्रस्तावना

ब्रह्म, ईश्वर, माया व जीव के स्वरूप

सर्वशक्तिमान व्यक्ति विशेष के रूप ने ईश्वर की धारणा करके साधना में अग्रसर होकर धीरे धीरे उनका वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है –

"अहं ब्रह्म"2

इस प्रकारज्ञान न होने पर मुक्ति नहीं होती दृ काम–कांचन–भोग की इच्छा छुटे बिनातथा महापुरुष की कृपा प्राप्त हुए बिना ऐसा नहीं होता। अन्तर्बहिः संन्यासद्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति – संशय भाव का त्याग करना – किस प्रकार क0`चिन्तन से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है – मन का स्वरूप तथा मन का संयम किस प्रकार करना होता है – ज्ञानपथ का पथिक ध्यान के विषय के रूप मेंअपने यथार्थ स्वरूप का ही अवलम्बन करेगा। अद्वैत स्थिति लाभ का अनुभव – ज्ञान भक्ति योगरूपी सभी पथों का लक्ष्य है जीव को ब्रह्मज्ञ बनाना – अवतार तत्त्व – आत्मज्ञान प्राप्त करने में उत्साह देना – आत्मज्ञ पुरुष का कर्म जगत् के हित के लिए होता है।

'एते च अंशकलाःपुंसः कृष्णः तु भगवान्स्वयम्'श्रीमद्भागवद्पुराण 1/3/28

यहां 'च' और 'तु' से भगवान् राम का संग्रह है और इन दोनों निपातों के द्वारा भगवान् राम की भगवत्ता में सुदृढ़ प्रमाण दिया गया है। एक आत्मा ही सत्य है। कृष्ण केवल एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे। कई आचार्य भीतर से वेदान्त वादी हैं, परन्तु बाहर द्वैतवाद का पक्ष लेकर तर्क करते हैं, ईश्वर को व्यक्तिविशेष बताकर बात का प्रारम्भ करके धीरे धीरे वेदान्तवाद की नींव को सुदृढ़ प्रमाणित करना ही उनका उद्देश्य जान पड़ता है अधिकतर वेदांती या अद्वैत वेदांत के

आचार्य अपने आप को "शून्यवादी नास्तिक" समझते हैं।

उपनिषद् दर्शन आदि में क्या यह बात है कि ईश्वर कोई शक्तिमान् व्यक्तिविशेष है? लोग तो वैसे ही ईश्वर में विश्वास रखते हैंस

अद्वैतवादी मत है कि 'सर्वेश्वर' कभी भी विशेष व्यक्ति नहीं बन सकते। जीव है व्यष्टि; और समस्त जीवों की समष्टि है, ईश्वर। जीव में अविद्या प्रबल है; ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टिरूपी माया को वशीभूत करके विराजमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावर–जंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से बाहर निकाल रहा है। परन्तु ब्रह्म उस व्यष्टि–समष्टि से अथवा जीव–ईश्वर से परे है। ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता। समझाने के लिए उनके त्रिपाद, चतुष्पाद आदि की कल्पना मात्र की गयी है। जिस पाद में सृष्टि–स्थितिलय का अभ्यास हो रहा है, उसी को शास्त्र में 'ईश्वर' कहकर निर्देश किया गया है। अपर पाद कूटस्थ है; जिसमें द्वैत कल्पना का आभास नहीं है, वही ब्रह्म है। इससे तू कहीं ऐसा न मान लेना कि ब्रह्म ही जीव–जगत् से कोई अलग वस्तु है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म ही जीव–जगत के रूप में परिणत हुआ है। अद्वैतवादी कहते हैं, 'ऐसा नहीं, ब्रह्म में जीवजगत् अध्यस्त मात्र हुआ है।' परन्तु वास्तव में उसमें ब्रह्म का किसी प्रकार परिणाम नहीं हुआ। अद्वैतवादी का कहना है कि जगत् केवल नामरूप ही है। जब तक नामरूप है, तभी तक जगत् है। ध्यान–धारणा द्वारा जब नाम रूप लुप्त हो जाता है, उस समय एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। उस समय तेरी, मेरी अथवा

जीव–जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होता। उस समय ऐसा लगता है कि मैं ही नित्य–शुद्ध–बुद्ध प्रत्यक् चैतन्य अथवा ब्रह्म हूँ, जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है। ध्यान–धारणा द्वारा नाम रूप आवरण हटकर यह भाव प्रत्यक्ष होता है, बस इतना ही। यही है शुद्धाद्वैतवाद का असल सार। वेद–वेदान्त, शास्त्र आदि इसी बात को नाना प्रकार से बार बार समझा रहे हैं।

यदि ऐसा है, तो फिर ईश्वर सर्वशक्तिमान् व्यक्तिविशेष है दृ यह बात कैसे सत्य हो सकती है?

व्यक्ति मनरूपी उपाधि को लेकर ही मनुष्य है। मन के ही द्वारा मनुष्य को सभी विषय समझना पड़ रहा है। परन्तु मन जो कुछ सोचता है वह सीमित होगा ही। इसीलिए अपने व्यक्तित्व से ईश्वर के व्यक्तित्व की कल्पना करना जीव का स्वतःसिद्ध स्वभाव है, मनुष्य अपने आदर्श को मनुष्य के रूप में ही सोचने में समर्थ है। इस जरामृत्युपूर्ण जगत् में आकर मनुष्य दुःख की ताड़ना से 'हा हतोऽस्मि'3 करता है और किसी ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेना चाहता है जिस पर निर्भर रहकर वह चिन्ता से मुक्त हो सके। परन्तु ऐसा आश्रय है कहाँ? निराधार सर्वज्ञ आत्मा ही एक मात्र आश्रयस्थल है। पहले पहले मनुष्य यह बात जान नहीं सकता। विवेक–वैराग्य आने पर ध्यान–धारणा करते करते धीरे धीरे यह जाना जाता है। परन्तु कोई किसी भी भाव से साधना क्यों न करे, सभी अपने अनजान में अपने भीतर स्थित ब्रह्मभाव को जगा रहे हैं। हाँ, आलम्बन अलग अलग हो सकता है। जिसका ईश्वर के व्यक्तिविशेष होने में विश्वास है, उसे उसी भाव को पकड़कर साधन–भजन आदि करना चाहिए। एकान्तिका आने पर उसीसे समय पर ब्रह्मरूपी सिंह उनके भीतर से जाग उठता है। ब्रह्मज्ञान ही जीव का एक मात्र प्राप्तव्य है। परन्तु अनेक पथ दृ अनेक मत हैं। जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म होने पर भी मनरूपी उपाधि में अभिमान रहने के कारण, वह तरह तरह के सन्देह, संशय, सुख, दुःख आदि भोगता है, परन्तु अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त सभी गतिशील हैं। जब तक 'अहं ब्रह्म' यह तत्त्व प्रत्यक्ष न होगा, तब तक इस जन्ममृत्यु की गति के पंजे से किसी का छुटकारा नहीं है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवती होती है; नहीं तो काम–कांचन में लिप्त व्यक्तियों के मन की उधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिसके मन में स्त्री, पुत्र, धन, मान प्राप्त करने का संकल्प है, उसके मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसी होगी? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार है, जो सुख, दुःख, भले–बुरे के चंचल प्रवाह में धीर–स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट है। वही महाबल से जगत्–रूपी जाल को तोडकर माया की सीमा को लांघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है।

निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी'4

क्या संन्यास के बिना ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता?

अन्तः,र्बाह्य दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए, आचार्य शंकर ने भी मुण्डकोपनिषद के 'तपसो वाप्यलिंगात्'5 दृ इस अंश की व्याख्या के प्रसंग में कहा है, 'लिंगहीन अर्थात् संन्यास के बाह्य चिह्नों के रूप में गेरूआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण न करके तपस्या करने पर कष्ट से प्राप्त करने योग्य ब्रह्मतत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता।' वैराग्य न आने पर दृ त्याग न होने पर दृ भोगस्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है? दृ वे बच्चे के हाथ का लड्डू तो हैं नहीं जिसे भुलावा देकर छीन कर खा सकते हो।

क्या साधना करते करते धीरे धीरे त्याग आ सकता है ?

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'हो रहा है, होगा, यह सब टालने का ढंग है।' प्यास लगने पर क्या कोई बैठा रह सकता है? दृ या जल के लिए दौड़धूप करता है? प्यास नहीं लगी इसीलिए बैठा है। ज्ञान की इच्छा प्रबल नहीं हुई, इसीलिए स्त्री–पुत्र लेकर गृहस्थी कर रहा है! वास्तव में हम यह समझ नहीं सकते है कि अभी तक हमारे भीतर उस प्रकार की सर्वस्व त्यागने की बुद्धि क्यों नहीं आ रही है। इसका भी कोई उपाय होना चाहिये?

उद्देश्य और उपाय सभी हमारे हाथ में हैं। हम केवल उस विषय में इच्छा को मन में उत्तेजित कर सकते हैं । हम सब सत् शास्त्रों का अध्ययन कर रहे है दृ बड़े बड़े ब्रह्मज्ञ आचार्यों की सेवा और सत्संग कर रहे है दृ इतने पर भी यदि त्याग का भाव नहीं आता, तो जीवन ही व्यर्थ हैं। परन्तु बिल्कुल व्यर्थ नहीं है दृ समय पर इसका परिणाम जबरदस्ती निकल ही पड़ेगा।

यह शरीर, घर, विश्वविद्यालय, जीव–जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है दृ स्वप्न की तरह है, सदा चिन्तन करें कि यह शरीर, एक जड़–यन्त्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। मनरूपी उपाधि ही इसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है; उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयंज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है इसलिए हम अपने स्वरूप को जान नहीं पाते है। रूप–रस की ओर दौड़ने वाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा; मन को मारना होगा। देह तो स्थूल है दृ यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है; परन्तु संस्कारों की गठरी अर्थात् मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भाँति कुछ दिन रहकर फिर वृक्ष रूप में परिणत होता है; फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्म मृत्यु के पथ में आया–जाया करता है। जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है इसीलिए कहा गया है दृ ध्यान–धारणा और विचार के बल पर मन को सच्चिदानन्द समुद्र में डुबो दें। मन के मरते ही सभी गया मननशून्य की अवस्था ही आ जाये दृ बस फिर ब्रह्मसंस्थ हो जायगा।"

हालांकि, इस उद्दाम, उन्मत्त मन को ब्रह्म में डुबो देना बहुत ही कठिन है। अद्वैत वीर के सामने फिर कठिन नाम की कोई भी चीज है क्या? पुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं!

'वीराणामेव करतलगता मुक्तिः, न पुनः कापुरुषाणाम्।'6

अभ्यास और वैराग्य के बल से मन को संयत कर। गीता में कहा है,'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' चित्त मानो एक निर्मल तालाब है। रूपरस आदि के आघात से उसमें जो तरंग उठ रही है, उसी का नाम है मन। इसीलिए मन का स्वरूप संकल्प–विकल्पात्मक है। उस संकल्प–विकल्प से ही वासना उठती है। उसके बाद वह मन ही क्रिया शक्ति के रूप में परिणत होकर स्थूल देहरूपी यन्त्र के द्वारा कार्य करता है। फिर कर्म भी जिस प्रकार अनन्त है कर्म का फल भी वैसा ही अनन्त है। अतः अनन्त असंख्य कर्म फल रूपी तरंग में मन सदा झूला करता है। उस मन को वृत्तिशून्य बना देना होगा दृ और उसे स्वच्छ तालाब में परिणत करना होगा। जिससे उसमें फिर वृत्तिरूपी एक भी तरंग न उठ सके। तभी ब्रह्मतत्त्व प्रकट होगा। शास्त्रकार उसी स्थिति का आभास इस रूप में दे रहे हैं दृ'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः' आदि दृ ?

हृदय की सभी ग्रथियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न–भिन्न हो जाते हैं, तथा मनुष्य के कर्मों का क्षय हो जाता है, जब उस परतत्त्व का दर्शन हो जाता है, जो एक साथ ही अपरा सत्ता एवं 'परम सत्ता' है ।यहां एक बात अवश्य उत्पन्न होगी की ध्यान तो विषयावलम्बी होना चाहिए न?

हम स्वयं ही अपना विषय बनेंगे। हम सर्वव्यापी आत्मा है इसी बात का मनन और ध्यान किया करे।'मैं देह नहीं हूँ दृ मन नहीं हूँ दृ बुद्धि नहीं हूँ दृ स्थूल नहीं हूँ दृ सूक्ष्म नहीं हूँ' दृ इस प्रकार 'नेति' 'नेति' करके प्रत्यक् चैतन्य रूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन की बार बार डुबो डुबो कर मार ले। तभी ज्ञान स्वरूप का बोध या स्वस्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता–ध्येय–ध्यान एक बन जायेंगे, दृ ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान एक बन जायेंगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायेगी। इसी को शास्त्र में 'त्रिपुटिभेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जाने कैसे? आत्मा ही ज्ञान दृ आत्मा ही चैतन्य दृ आत्मा ही सच्चिदानन्द है। जिसे सत् या असत् कुछ भी कहकर निर्देश नहीं किया जा सकता, उसी अनिर्वचनीय माया शक्ति के प्रभाव से जीवरूपी ब्रह्म के भीतर ज्ञाता ज्ञेय–ज्ञान का भाव आ गया है। इसे ही साधारण मनुष्य चैतन्य या ज्ञान की स्थिति (ब्वदेबपवने ेजंजम) कहते हैं। जहाँ यह द्वैतसंघात शुद्ध ब्रह्मतत्त्व में एक बन जाता है, उसे ही शास्त्र में समाधि या साधारण ज्ञान की भूमि से अधिक उच्च स्थिती ैं(नचमतबवदेबपवने ेजंजम) कहकर इस प्रकार वर्णन किया है दृ

'स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्।'7

इस ज्ञाता–ज्ञेय रूप की सापेक्ष भूमिका से ही दर्शनशास्त्र ,विज्ञान आदि निकले हैं; परन्तु मानव मन का कोई भी भाव या भाषा जानने या न जानने के परे की वस्तु को सम्पूर्ण रूप से प्रगट नहीं कर सकती है। दर्शन, विज्ञान आदि आंशिक रूप से सत्य है; इसलिए वे किसी भी तरह परमार्थ तत्त्व के सम्पूर्ण प्रकाशक नहीं बन सकते। अतएव परमार्थ की दृष्टि से देखने पर सभी मिथ्या ज्ञात होता है दृ धर्म मिथ्या, कर्म मिथ्या, मैं मिथ्या हूँ, तू मिथ्या है, जगत् मिथ्या है। उसी समय देखता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सर्वगत आत्मा हूँ; मेरा प्रमाण मैं ही हूँ। मेरे अस्तित्व के प्रमाण के लिए फिर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता कहाँ है? मैं दृ जैसा कि शास्त्रों में कहा है 'नित्यमस्मत्प्रसिद्धम्' हूँ। मैंने वास्तव हमने ऐसी स्थिति को प्रत्यक्ष किया है दृ उसका अनुभव किया है।अतः जीवों को यह ब्रह्मतत्त्व सुनाए तब तो वे शान्ति पायेंगे।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि इस

'सर्वमतग्रासिनी, सर्वमतसमंजसा'8

ब्रह्मविद्या का स्वयं अनुभव करें और जगत् में इसका श्रुति पाठ कराएं, उससे स्वयं का कल्याण होगा, जीवों का भी कल्याण होगा इससे बढ़कर बात और दूसरी कोई नहीं है। प्राय फिर भी हम कभी भक्ति की, कभी कर्म की तथा कभी योग की प्रधानता की बात कहते हैं। उससे हमारी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है।असल बात यही है कि ब्रह्मज्ञ बनना ही चरम लक्ष्य है दृ परम पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्य तो हर समय ब्रह्म में स्थित नहीं रह सकता? व्युत्थान के समय कुछ लेकर तो रहना होगा? उस समय ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे लोगों का कल्याण हो। अभेदबुद्धि से जीव को सेवारूपी कर्म की ओर आतुर होना चाहिए। परंतु कर्म के ऐसे दाँवपेच हैं कि बड़े बड़े ब्रह्म जिज्ञासु भी इसमें आबद्ध हो जाते हैं। इसीलिए फल की आकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना चाहिए। गीता में यही बात कही गयी है, परन्तु यह समझले कि ब्रह्मज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है।सत्कर्म के द्वारा बहुत हुआ तो चित्तशुद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार ने ज्ञानकर्मसमुच्चय के प्रति इतना तीव्र कटाक्ष दृ इतना दोषारोपण किया है। निष्काम कर्म से किसी किसी को ब्रह्मज्ञान हो सकता है। यह भी एक उपाय अवश्य है। परन्तु उद्देश्य है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। इस बात को भलीभाँति जान लेना अत्यंत आवश्यक है दृ विचारमार्ग तथा अन्य सभी प्रकार की साधना का फल है ब्रह्मज्ञता प्राप्त करना। उन सभी मार्गो में साधना करते करते भी किसी किसी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिमार्ग के द्वारा धीरे धीरे उन्नति होकर देर में फल प्राप्त होता है दृ परन्तु मार्ग है सरल। योग में अनेक विघ्न हैं। सम्भव है कि मन सिद्धियों में चला जाय और असली स्वरूप में पहुँच न सके। एक मात्र ज्ञानमार्ग ही आशुफलदायक है इसलिए यहां इसकी व्यावहारिकता है और सभी मतों का संस्थापक होने के कारण सर्व काल में सभी देशों में समान रूप से सम्मानित है। परन्तु विचारपथ में चलते चलते भी मन ऐसे तर्कजाल में बद्ध हो सकता है, जिससे निकलना कठिन है। इसीलिए साथ ही साध ध्यान भी करते जाना चाहिए।9 विचार और ध्यान के बल पर उद्देश्य में अथवा ब्रह्मतत्त्व में पहुँचना होगा। इस प्रकार साधना करने से गन्तव्य स्थल पर ठीक ठीक पहुँचा जा सकता है। यही हमारी सम्मति में सरल तथा शीघ्र फलदायक मार्ग जान पड़ता है।

जिस आत्मा की इतनी महिमा शास्त्रों से जानी जाती है, उस आत्मा का ज्ञान जिनकी कृपा से एक मुहूर्त में प्राप्त होता है, वे ही हैं सचल तीर्थ दृ अवतार पुरुष। वे जन्म से ही ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं है दृ

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'10

आत्मा को तो फिर जाना नहीं जाता, क्योंकि यह आत्मा ही जाननेवाला और जनन करनेवाला बना हुआ है दृ यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अतः मनुष्य का जानना उसी अवतार तक है दृ जो आत्मसंस्थ हैं। मानवबुद्धि ईश्वर के सम्बन्ध में जो सब से उच्च भाव (ापहीमेज पकमंस), ग्रहण कर सकती है, वह वहीं तक है। इसके बाद और जानने का प्रश्न नहीं रहता। उस प्रकार के ब्रह्मज्ञ कभी कभी ही जगत् में पैदा होते हैं। उन्हें कम लोग ही समझ पाते हैं। वे ही शास्त्रवचनों के प्रमाणस्थल हैं दृ भवसागर के आलोकस्तम्भ हैं। इन अवतारों

के सत्संग तथा कृपादृष्टि से एक क्षण में ही हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है दृ एकाएक ब्रह्मज्ञान का स्फुरण हो जाता है। क्यों होता है अथवा किस उपाय से होता है, इसका निर्णय किया नहीं जा सकता, परन्तु होता अवश्य है। श्रीकृष्ण ने आत्मसंस्थ होकर गीता कही थी। गीता में जिन जिन स्थानों में 'अहम्' शब्द का उल्लेख है दृ वह 'आत्मपर' जानना। 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् 'आत्मसंस्थबनना एकमात्र लक्ष्य है।'11 यह आत्मज्ञान ही गीता का अन्तिम लक्ष्य है। योग आदि का उल्लेख उसी आत्मतत्त्व की प्राप्ति की आनुषंगिक अवतारणा है। जिन्हें यह आत्मज्ञान नहीं होता वे आत्मघाती हैं। 'विनिहन्त्यसद्ग्रहात्।' रूपरस आदि की फाँसी लगकर उनके प्राण निकल जाते हैं। 'जायस्वम्रियस्व' के दल में जायगा? 'श्रेय' को ग्रहण करने से दृ 'प्रेय' का त्याग करने से यह आत्मतत्त्व चाण्डाल आदि सभी को सुनाने से 'तत्त्वमसि''सोऽहमस्मि' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'12 आदि महामन्त्र का सदा उच्चारण कर और हृदय में सिंह की तरह बल रख। भय क्या है? भय ही मृत्यु है दृ भय ही महापातक है। नररूपी अर्जुन को भय हुआ था दृ इसलिए आत्मसंस्थ होकर भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया; फिर भी क्या उसका भय चला गया था? अर्जुन जब विश्वरूप का दर्शन कर आत्मसंस्थ हुए तभी वे ज्ञानाग्निदग्धकर्मा बने और उन्होंने युद्ध किया।

प्रश्नः क्या आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर भी क्या कर्म रह जाता है?13

उत्तर निष्कर्ष

सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं की बाया जीव ब्रह्म और ईश्वर माया के संदर्भ में जितनी सटीक बात संक्षेप में शोधार्थियों को बताने का प्रयास किया गया उतना शायद अन्य 5 आस्तिक दर्शनों में नहीं बताया गया जैसा कि उपरोक्त वर्णित प्रश्न का सारांश रूप में उत्तर यह हो सकता है कि ज्ञानप्राप्ति के बाद साधारण लोग जिसे कर्म कहते हैं वह वैसा कर्म नहीं रहता। उस समय कर्म 'जगद्धिताय' हो जाता है14 . आत्मज्ञानी की सभी बातें जीव के कल्याण के लिए होती हैं। श्रीरामकृष्ण को देखा है' देहस्थौपि न देहस्थः। यह भाव!

वैसे पुरुषों के कर्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है दृ 'लोकवतु लीलाकैवल्यम्'।15 शंकराचार्य मानते हैं कि संसार में ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव और ब्रह्म अलग नहीं हैं। जीव केवल अज्ञान के कारण ही ब्रह्म को नहीं जान पाता जबकि ब्रह्म तो उसके ही अंदर विराजमान है। उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र में "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा कहकर अद्वैत सिद्धांत बताया है। अद्वैत सिद्धांत चराचर सृष्टि में भी व्याप्त है।16

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पुस्तक : कबीर बानी (पृष्ठ 95) रचनाकार : अली सरदार जाफ़री प्रकाशन : राजकमल प्रकाशन प्रा.
2. अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्प्रकास एवं समीक्ष्य चात्मामात्मन्याधाय निष्किचे श्रीमद–भागवतम (भागवतपुराण) सर्ग 12ः पतनकीआयु ,अध्यायपाँच
3. हा हतोऽस्मि विननेतोऽस्मि मृतोऽस्मिथि पुनः पुनः। शोचिते गत अवाहमिदानीं नानुरोदिमि ॥ 59॥ मोक्षोपाय श्लोक 5.9.59 का संस्कृत पाठ वासुदेव लक्ष्मण शर्मा पंसीकर द्वारा वाल्मीकि के योगवासिष्ठ पुस्तक में निहित है।
4. .'निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी'" ब्रह्मरूपी सिंह–शावक की धुन 'निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी " (18 ।) महाबल से जगत–रूपी जाल को तोड़कर माया की सीमा को लांघ सिंह की तरह बाहर निकल आता है । मुण्डकोपनिषद (6) में कहा गया है। " नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।"
5. वेदान्तसूत्र २।१।३३
6. विवेकानन्द दर्शनम् सारांश (17–26) असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं।अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।6.35।। श्रीमद् भगवद्गीता

7. 'स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्!' विवेकचूड़ामणि 411
8. आचार्य तुलसीदास कृत रामचरितमानस अरण्यकांड 14
9. कल्याण, उपनिषद अंग 23 वर्ष का विशेषांक पृष्ठ संख्या 34 35 36 37 38
10. ईशादि नौ उपनिषद शंकरभाष्य कृत
11. वेदांतसार सदानंद योग प्रणीत पृष्ठ संख्या 26 27 39 45
12. वेबसाइट डब्लू डब्लू डब्लू डॉट गायत्री चेतना परिवार हरिद्वार डॉट कॉम दिनांक 22 जुलाई 20 22(हंलंजतपबीमजंदं हतवनच.बवउ)/(हंलंजतप चंतपअंत.बवउ)
13. यूट्यूब लेक्चर सीरीज स्वामी अनुभवानंद सरस्वती मंडुक्य उपनिषद पर
14. यूट्यूब लेक्चर सीरीज प्रोफेसर हिम्मत सिंह सिन्हा
15. मुण्डक उपनिषद् 3स2स4 भाष्य ।
16. शंकर भाष्य चतुसूत्री 1।2।1

❖◆❖